

संत शिवनारायण-एक संक्षिप्त रेखांकन

बीज शब्द :

सन्त शिवनारायण, शिवनारायणी पन्थ, कबीर पन्थ, दलित संत,

शिवनारायणी सम्प्रदाय का सर्वप्रथम उल्लेख श्री एच. एच. विल्सन द्वारा सन् 1842 ई० में विविध भारतीय धार्मिक सम्प्रदाय नामक अपनी पुस्तक में किया है। जैसा कि पुस्तक के नाम से ही स्पष्ट है, पुस्तक-प्रणेता का अभीष्ट सभी भारतीय धार्मिक सम्प्रदायों का विवरण उपस्थित करना था, परन्तु वह शिवनारायणी सम्प्रदाय का केवल परिचय मात्र ही दे पाये थे।¹

विल्सन महोदय के पश्चात् अनेक अंग्रेज तथा भारतीय विद्वानों ने प्रसंगवश या जिज्ञासा पूर्वक इस सम्प्रदाय तथा संत शिवनारायण का उल्लेख अपनी कृतियों में किया है और अपने विवरण में विल्सन महोदय का अनुकरण भी किया है। सन् 1891 ई० में अंग्रेज विद्वान एच. एच. रिजली ने बंगाल तथा कलकत्ता की जातियाँ-उपजातियाँ नामक एक ग्रन्थ प्रस्तुत किया।² इनके साथ ही डब्ल्यू. क्रुक ने उत्तरी-पश्चिमी प्रान्त तथा अवध की जातियाँ नामक विवरण प्रस्तुत किया, जो सन् 1896 में प्रकाशित हुआ।³ इन दोनों महानुभावों के विवरण से स्वयं संत शिवनारायण के विषय में तो कोई उल्लेख नहीं प्रकट होता, किन्तु उनकी रचनाओं तथा साम्प्रदायिक आचारों के विषय में अवश्य कई महत्वपूर्ण बातें प्रकाश में आती हैं जिसमें एक यह है कि इन लोगों ने रैदासी और शिवनारायणी दोनों को समान समझा है।

सन् 1907 ई० तथा सन् 1909 ई० में श्री एच. आर. नेविल महोदय ने बलिया तथा गाजीपुर जिले का गजेटियर सम्पादित किया। गाजीपुर जिले के गजेटियर में स्थानीय कवियों का उल्लेख करते हुए नेविल महोदय ने केवल संत शिवनारायण का ही विवरण दिया है। उनको इस विषय की सूचना राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द से प्राप्त हुई थी, ऐसा उनके कथन से स्पष्ट है।⁴ राजा शिवप्रसाद के कथन का आधार भी विल्सन महोदय द्वारा किया हुआ उल्लेख ही प्रतीत होता है, क्योंकि दोनों में पर्याप्त साम्य है। नेविल महोदय का विवरण संक्षिप्त है और उसमें संत शिवनारायण के सम्बन्ध में कोई महत्वपूर्ण बात नहीं कही गई है।

प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान जी. एच. ग्रियर्सन ने सर्वप्रथम सन् 1918 ई० के रॉयल ऐशियाटिक सोसायटी के जर्नल में इस सम्प्रदाय तथा संत शिवनारायण के विषय में सर्वथा सत्य तथा व्यवस्थित विवरण प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। आपने न केवल विल्सन, रिजली और क्रुक महोदयों द्वारा प्रस्तुत सामग्री का उपयोग किया वरन् स्वयं गाजीपुर में रहने वाले इस सम्प्रदाय के तत्कालीन प्रधान से अनेक तथ्यों की जाँच भी की। इनसाइक्लोपीडिया ऑफ रेलिजन एण्ड एथिक्स में इसी सम्प्रदाय के विषय में दूसरी बार, सन् 1920 में, लिखते समय आपने उपर्युक्त कथन की सत्यता की साक्षी दी

भारतीय धर्म साधना में दलित संतो एवं भक्तों का प्रमुख स्थान रहा है। मध्यकाल के भक्ति आन्दोलन में दलित संत रचनाकारों ने निराकार की साधना के माध्यम से मानव मात्र की एकता का रहस्योद्घाटन करते हुए आध्यात्मिक मार्गदर्शन किया है। संत शिवनारायण इन्हीं में से एक थे जिनका संबंध कबीर पंथ से जोड़ा जाता है। प्रस्तुत शोध लेख में ऐतिहासिक दृष्टि से संत 108 स्वामी श्री शिवनारायण जी का एक संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है।

डॉ. शिल्पी श्रीवास्तव
सी-१२, साउथ सिटी,
रायबरेली रोड,
लखनऊ-२२६०२५,
उ०प्र०, भारत।

ISSN 0975 1254 (PRINT)
ISSN 2249-9180 (ONLINE)
www.shodh.net

A Refereed Research Journal
And a complete Periodical dedicated to
Humanities & Social Science Research

शोध
संयोजन

है।⁵

ग्रियर्सन के पश्चात् इस सम्प्रदाय के उल्लेखकर्ताओं में जे. एन. फर्कुहर, ब्रिग्स, एडविन ग्रीव्स, एफ. ई. की और कार्ल बार्थ के नाम आते हैं। जे. एन. फर्कुहर महोदय के कथन का आधार विल्सन और ग्रियर्सन के कथन तथा सन् 1901 की जनगणना का विवरण है तथा इसमें कोई नई बात परिलक्षित नहीं होती है। ब्रिग्स ने इस सम्प्रदाय का उल्लेख अपनी पुस्तक द चमारस में किया है। स्पष्ट है कि यह उल्लेख प्रसंगवश है और वह भी उतना ही जितना चमारों के सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक जीवन से यह सम्प्रदाय अभिन्न है। फलतः साम्प्रदायिक आचारों के अध्ययन में विशेष सहायक होते हुए भी जीवन वृत्त से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। सम्प्रदाय के चार धर्मों तथा कुछ ग्रन्थों के नाम प्रसंगानुसार अवश्य आ गये हैं। ध्यान देने योग्य बात यह है कि इसमें ग्रन्थों के प्रसंगानुकूल नामोल्लेख में बीजक नाम भी आया है।⁶ एडविन ग्रीव्स, एफ. ई. की और कार्ल बार्थ महोदयों ने प्रसंगवश क्रमशः अपने ग्रन्थों-ए स्केच ऑफ हिन्दी लिटरेचर, कबीर एण्ड हिज फॉलोवर्स तथा रेलिजन्स ऑफ इंडिया में इस सम्प्रदाय का नामोल्लेख मात्र कर दिया है। भारतीय विद्वानों द्वारा किये गये उल्लेखों में सबसे पहला विवरण बाबू श्यामसुन्दर दास द्वारा सम्पादित नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित द्वितीय त्रैमासिक रिपोर्ट में मिलता है। इसमें संत शिवनारायण के पाँच ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है। ये पाँचों ग्रन्थ-संत सुन्दर, संत विलास, संत विचार, संत परवाना, संत उपदेश-चुनार में किसी भानुप्रताप तिवारी के पास खोज में उपलब्ध हुए थे। खोज रिपोर्ट के सम्पादक बाबू श्यामसुन्दर ने संत विचार को विल्सन द्वारा उल्लिखित बारहवाँ ग्रन्थ होने की संभावना प्रकट की है जो सम्प्रदाय के प्रधान द्वारा पूर्णतया अधिकृत होने के कारण नहीं देखा जा सका था।⁷

इसके बाद शिवप्रसाद गुप्त के माधुरी (फरवरी, सन् 1927) में प्रकाशित लेख, आचार्य क्षितिमोहन सेन के मध्ययुगीन भारतीय रहस्य साधना (सन् 1930), सन् 1935 की सभा की खोज रिपोर्ट, कल्याण के संत अंक, श्री शिवव्रतलाल का संतमाल, डॉ० बड़थवाल के हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय (सन् 1936), नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग 9 के लेख, डॉ० रामकुमार वर्मा के हिन्दी साहित्य के आलोचनात्मक इतिहासब (सन् 1938), प्रसिद्धनारायण सिंह के बलिया के कवि और लेखक, नागरी प्रचारिणी सभा की सन् 1943 की खोज के मूल विवरण, प्रो० ताराचन्द्र के इन्फ्ल्यूएँस ऑफ इस्लाम ऑन इण्डियन कल्चर तथा पं० परशुराम चतुर्वेदी की उत्तरी भारत की संत परम्परा (सन् 1951) में, संत शिवनारायण तथा शिवनारायण सम्प्रदाय के विषय में प्रसंगानुकूल उल्लेख मिलते हैं। इन सभी भारतीय विद्वानों में पं० परशुराम चतुर्वेदी ने सर्वप्रथम इस सम्प्रदाय का व्यवस्थित एवं विस्तृत विवरण अपनी पुस्तक उत्तर भारत की संत

परम्परा में प्रस्तुत किया है। उन्होंने उपर्युक्त सभी अंग्रेजी तथा भारतीय विद्वानों द्वारा प्रस्तुत सामग्री का उपयोग किया है।⁸

पं० परशुराम चतुर्वेदी के उक्त अध्ययन के ठीक पाँच वर्ष के पश्चात् शिवनारायणी सम्प्रदाय और उसका साहित्य का वृहद् रूप में विश्लेषण डॉ. रामचन्द्र तिवारी जी द्वारा सन् 1956 ई० में उनके द्वारा लखनऊ विश्वविद्यालय में पी-एच. डी. उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध के दौरान किया गया था⁹, परन्तु उसकी कृति पुस्तक के सम्पूर्ण रूप में सोलह वर्षों के बाद सन् 1972 ई० में प्रकाशित हुयी थी। जिसमें उन्होंने पुराने सभी लेखकों द्वारा किये गये अध्ययनों की सत्यता की जाँच परख एवं विश्लेषण करते हुए संत शिवनारायणी सम्प्रदाय एवं काव्य की विस्तार से चर्चा की है, परन्तु उन्होंने जितने भी धामग्रहों एवं उनके महंतों का जिक्र अपने अध्ययन में किया है सम्प्रति वह सभी उत्तरी भारत के मैदानी ईलाकों (जैसे ससना, चंद्रवार, बड़सरी, बलिया, गाजीपुर, कानपुर इत्यादि) के ही एक बात जो यहाँ सबसे महत्वपूर्ण और ध्यान देने योग्य है वह यह कि इन सभी लेखकों (डॉ० बड़थवाल को छोड़कर) के अध्ययन की सीमा केवल मैदानी भागों तक ही सीमित थी इसमें उत्तराखण्ड के कुमाँऊ अंचल के पहाड़ी क्षेत्र की कहीं कोई चर्चा नहीं की गयी है जबकि यहाँ शोध ग्रन्थ की रूपरेखा में कुमाँऊ अंचल के पिथौरागढ़ जनपद को शोध का केन्द्र बिन्दु बनाया गया है, क्योंकि जिन संत शिवनारायणजी की चर्चा अभी तक की गयी है उनके सैकड़ों की तादाद में अनुयायी पिथौरागढ़ जनपद के अनेकों गाँवों (जैसे बजेठी, हुडैती, उर्ग, बलकोट, थरकोट, मड़, कुमौड़ इत्यादि) में निवास करते हैं। कुमाँऊ के प्रसिद्ध पुरातत्वविद् एवं शिक्षाविद् डॉ० श्यामलाल कोली¹⁰ ने अपनी पुस्तक पिथौरागढ़ का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, जो कि सन् 1989 में प्रकाशित हुई थी, में उन्होंने इन अनुयायियों का जिक्र कुछ इस प्रकार किया था-

यहाँ का पिछड़ा समाज अब भी समाजों का आयोजन करता है, जिसके अन्तर्गत मृतक को जलाने के बजाय गा-बजाकर भूमि के अन्दर दफना दिया जाता है। इस धार्मिक मान्यता को कुछ लोग गोरखपंथ और कुछ कबीरपंथ कहते हैं, परन्तु इन अनुयायियों के पास जाकर और बातचीत करने पर यह पाया गया कि यह लोग संत शिवनारायण, जो कि संत कबीर के परवर्ती संत माने जाते हैं, को ही अपना गुरु मानते हैं और गुरु ग्रन्थ, गुरु अन्यास को सिखों के पवित्र ग्रन्थ, गुरु ग्रन्थ साहिब की तरह मानते और पूजा अर्चना करते हैं।

यह शोध का विषय है कि संत कबीर परम्परा के परवर्ती शिष्य संत शिवनारायण ने स्वयं इस सुदूर पहाड़ी अंचल में आकर, जो कि प्राचीन काल से कैलास मानसरोवर की यात्रा का पथ रहा है, अपने पंथ का प्रचार प्रसार किया या फिर इनके किसी शिष्य द्वारा यह कार्य किया गया। जो भी कारण रहे हों, संत कबीर से लेकर संत

शिवनारायण तक एवं कबीर पंथ से लेकर शिवनारायणी पंथ तक का बारीकी से शोध अध्ययन किये जाने की आवश्यकता है जिससे कि शिवनारायणी पंथ की विशालता एवं उनसे जुड़े तमाम महत्वपूर्ण पहलुओं को उजागर किया जा सके, जिनकी वजह से हिन्दुओं के एक बड़े तथा निम्न वर्ग ने इसे अपनाने का साहस जुटाया।

लेख के अंत में पिथौरागढ़ के ग्राम बजेठी (जनपद-पिथौरागढ़, उत्तराखण्ड) स्थित धामघर का छाया चित्र प्रस्तुत है जहाँ पर पंथ के लोग एक साथ बैठकर संगत करते हैं। यहाँ पर यह बताना अनन्त ही आवश्यक है कि संगत के समय वर्ग विशेष के अलावा किसी अन्य का प्रवेश व छायाचित्र लेना वर्जित होता है।

संदर्भ:-

1. विल्सन, एच० एच० रेलिजस सेक्टस ऑफ हिन्दूज, पृ० सं० 226।
2. रिजली, एच० एच० ट्राइब्स एण्ड कास्टस् ऑफ बंगाल, 1891, पृ० सं० 121।

3. क्रुक, विलियम नॉर्थ-वेस्ट प्रोविंस एण्ड ट्राइब्स ऑफ अवध, 1896, पृ० सं० 579।
4. नेविल, एच० आर० गजेटियर ऑफ गाजीपुर एण्ड बलिया, 1907, 1909, पृ० सं० 93।
5. ग्रियर्सन, जी० एच० इनसाइक्लोपेडिया ऑफ रेलिजन एण्ड एथिक्स, पृ० सं० 579।
6. ब्रिग्स, जॉर्ज वेस्टन द चमारस्, 1920, पृ० सं० 212।
7. बाबू, यामसुन्दर, संपा०, द्वितीय त्रैमासिक रिपोर्ट, ना० प्र० सभा, काशी, 1954, पृ० सं० 34।
8. तिवारी, रामचन्द्र शिवनारायणी सम्प्रदाय और उसका साहित्य, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण 1972।
9. कोली, श्याम लाल पिथौरागढ़ का राजनैतिक एवं साँस्कृतिक इतिहास, कालेश्वर प्रेस, कोटद्वार गढ़वाल, संस्करण 1989, पृ० सं० 29।



Continued from Page No. 18

the subject but the state of 'being unmarred'.

- (4) She fathered her child.
- (5) He mothers his child.

Here the nouns father and mother have been used as verbs and we see that in the case of father the male feature in the Noun has been retained. But in the case of mother the selection restriction has changed and the verb can take both + Female and - Female subjects. How then is 'mother' to be entered in the TG lexicon? With clashing features or as two different entries?

The latter solution would mean that the item is being treated as a case of absolute homonymy, and we have seen that this is a counter - intuitive notion. Besides, the N and V forms are very obviously semantically related and it is the lexicologists; task to bring out this relationship. We can attempt to do this in terms of semantic components. 'Fathering' a child has a very specific meaning and hence very specific selection restrictions. But to be a 'mother' to a child inherently encodes the feature BE LIKE (a) MOTHER and it is the presence of this feature which makes the grammaticality and acceptability of (5) possible.

Metaphorical creativity, thus, is an integral part of a speakers' competence and the theory should reflect this principle of metaphorical extension by finding some way to show how different senses of a homophonous (or homographic) item are related. This is, polysemy will need to be maximized and systematic account of it will have to be given in terms of transfer of semantic features.

A significant implication of maximizing polysemy is that theoretical priority is given to a speaker's ability to recognize relatedness of sense more readily than unrelatedness of sense. The alternative approach of maximizing homonymy, apart from other serious methodological disadvantages, would be counter- intuitive in that it does not reflect any basic psychological process- and this is only to be expected for the principles of organization of a language will not readily tolerate the existence of identical forms which can create irresolvable ambiguity.

Maximizing polysemy has the added advantage of considerably reducing the amount of idiosyncratic information to be relegated to the lexicon, thereby lessening the amount of learned material and aiding the process of easy and natural recall.

Notes- Weinreich (1966) too, has briefly dealt with the notion of transfer of features, but his treatment of it differs somewhat from the scheme we have outlined (cf. Biswas (1981) for further discussion).

References:-

1. Biswas, Kiran (1981) Theory and Technique in Lexical Description, unpublished Ph.D. dissertation submitted to the Indian Institute of Technology, Kanpur
2. Lehrer, Adrienne (1978) Structure of the Lexicon and Transfer of Meaning, *Lingua* 45 : 95 - 123.
3. Lyons, J. (1977) Semantics, Vol. I and II. London : Cambridge University Press.
4. Weinreich, U. (1966) Explorations in Semantic Theory, pp. 395-474 in T. Sebeok (Ed.), *Current Trends in Linguistics*, Vol. III. Mouton.

